पूँजीवादी स्वास्थ्य-सुविधाओं के काग़ज़ी ढोल की पोल

'हेल्थ इज़ वेल्थ', 'स्वास्थ्य ही जीवन है', आदि जैसी अनेक कहावतें व जुमले हम सभी ने सुने होंगे। पूँजीवादी प्रचार माध्यमों द्वारा वे प्राथमिक स्कूलों से लेकर सरकारी दफ़्तरों तक और अख़बार व टी. वी. चैनलों द्वारा बखूबी रटाये जाते हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि आज के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' जैसे बाज़ारू अख़बार इस बात पर तो आनन्दातिरेक की अवस्था में चले जाते हैं कि अरबपतियों के मामले में भारत आठवें स्थान पर है, मगर वे यह नहीं बताते कि बेरोज़गारी के मामले में, भ्रष्टाचार के मामले में, सरकारी दमन-उत्पीड़न के मामलों सहित जन सुविधाओं जैसे शिक्षा, चिकित्सा और रोज़गार की अनुपलब्धता के मामले में भारत कौन से स्थान पर है। चिकित्सा-व्यवस्था को ही ले लिया जाय तो पता चल जाएगा कि इस इक्कीसवीं सदी में पहुँचने, "भारत-उदय" होने और मुद्रास्फीति में "सुधार" होने जैसे जुमले देने के बावजूद यह व्यवस्था यह क्यों नहीं बताती कि चिकित्सा जैसी बुनियादी मानवीय ज़रूरतों तक को पूरा करने में यह क्यों असफल है। तरक्की का ढोल पीटने वाले व्यवस्था के वैचारिक तोपों के पास इस बात का उत्तर क्यों नहीं है कि हैज़ा, आंत्रशोथ, तीव्र अतिसार जैसी अनेक मामूली बीमारियों (जिनका इलाज वैज्ञानिकों ने दशकों पहले ही खोज निकाला था) तक से आज भी लाखों लोग प्रति वर्ष मर रहे हैं। सरकारी तंत्र इतना लचर हो चुका है कि आज मामूली से मामूली बीमारियों के इलाज के अभाव में लोग अपनी जानें गवाँ रहे हैं।

आज हालत यह है कि कई बीमारियों के मरीज़ों की संख्या के मामले में भारत अव्वल है! एक सर्वे रिपोर्ट के मुताबिक भारत में लगभग 1 करोड़ 70 लाख तपेदिक (टी.बी.) के मरीज़ हैं जो विश्व में सर्वाधिक हैं। इनमें से प्रति वर्ष पाँच लाख की तो मृत्यु हो जाती है। पूरी दुनिया के कुष्ठ रोगियों का 58 प्रतिशत (6. 67 लाख) तो केवल भारत में ही है। पूरी दुनिया के दृष्टिहीनों की बड़ी आबादी भारत में है जोकि 1 करोड़ 60 लाख है।

भारत में 5 वर्ष से नीचे के लगभग 10 करोड़ बच्चे कुपोषण का शिकार हैं। 6 वर्ष की आयु तक के हर तीन बच्चों में से दो तो कुपोषण का शिकार होते हैं जिनमें से एक तो जन्मजात कुपोषित होता है। भारत में पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों की मृत्यु दर 87 फीसदी है जोकि विश्व में सबसे ज़्यादा है। यहाँ तक कि बांग्लादेश, नेपाल, भूटान जैसे पड़ोसी देशों की हालत भी हमसे बेहतर है, जहाँ मृत्यु दर क्रमशः 69 फीसदी, 82 फीसदी व 85 फीसदी है। प्रति वर्ष 16 लाख माताओं की प्रसव के दौरान मृत्यु हो जाती है। भारत में संक्रामक रोगों का प्रतिशत लगातार बढ़ता जा रहा है। डेंगू, प्लेग जैसी बीमारियाँ दोबारा बढ़ रही हैं। अकेले संक्रमित जल-जनित बीमारियों के मामले में प्रति वर्ष एक करोड़ से भी अधिक मरीज़ अस्पतालों में जा रहे हैं। यह तो सरकारी आँकड़ा है। वास्तविक संख्या तो इससे कहीं अधिक है। उपरोक्त सभी मामलों में भारत विश्व के नंबर एक पायदान पर है, जिसे इस व्यवस्था के चाटुकार, भण्डुए पत्रकार जनता के समक्ष प्रस्तुत नहीं करते। बल्कि लोगों को बरगलाने के लिए फूहड़, अश्लील, मसालेदार, व गरमा-गरम व फैशनेबल संस्कृति का ज़हर धीरे-धीरे परोसते रहते हैं। इस मुनाफ़ाखोर पूँजीवादी व्यवस्था के पास अमीरों की अयाशियों के लिये केरल व राजस्थान में 'वाटर अम्यूज़मेण्ट पार्क' बनाने के लिए 4 हज़ार से 6 हज़ार करोड़ रुपये की लागत के प्रोजेक्ट तो हैं, लेकिन देश की जनता को बेहतर पीने लायक जल मुहैया कराने का प्रोजेक्ट इन मुनाफ़ाखोरों की लिस्ट में कहीं दूर-दूर तक नहीं है। जो रहा-सहा पानी लोगों को मिल रहा है, उसका भी निजीकरण कर मुनाफ़ाखोरों को पानी से पैसा बनाने का खूब मौका दिया जा रहा है। देश के अमीरज़ादों की मौज-मस्ती के लिए कसीनो और गोल्फ क्लब जैसे अयाशी के अड्डे खोलने के लिए विधेयक पहले ही पास हो चुके हैं। उनकी चमचमाती गाड़ियों के आने-जाने के लिए विशेष एक्सप्रेस मार्ग बनाए जा रहे हैं। सौन्दर्यीकरण के नाम पर जनता का पैसा पानी की तरह इसलिए बहाया जा रहा है ताकि निवेशक इज़ारेदार शक्तियों को लुभाया जा सके। मुनाफ़ाखोरों व लुटेरों को गरीबों की झुग्गी-झोपड़पट्टियों को हटाकर आधुनिक शॉपिंग मॉल व मल्टीप्लेक्स आदि बनाने की खुली छूट बाकायदा सुप्रीम कोर्ट द्वारा दी जा रही है।

हैज़ा, तपेदिक, जैसी बीमारियों से जिस देश में हर वर्ष करोड़ों जानें जाती हों वहाँ पर एड्स का ढोल पीटा जा रहा है, जिससे इतनी जानें नहीं जाती हैं। यह ठीक है कि एड्स के प्रति जागरूकता लायी जानी चाहिए, लेकिन पहले उन बीमारियों के इलाज का तो उचित इन्तज़ाम हो जिनसे इतनी बड़ी संख्या में लोग मरते हों। लेकिन एड्स के पीछे आज एक पूरी ग्लोबल पॉलिटिक्स चल रही है। एड्स दरअसल कई एनजीओ और तथाकथित सुधार संस्थाओं के लिए एक बहुत बड़ा धंधा है जिसके बल पर उन्हें फण्डिंग एजेंसियों से करोड़ों डॉलर मिलते हैं। यही कारण है कि सरकार भी एड्स को लेकर कुछ ज़्यादा ही "चिन्तित" है।

नया वर्ष
उन दिलों के नाम
जिनमें अभी भी प्यार करने की
ताकत है
और जिनमें बसी है यह बात
कि बेहतर ज़िन्दगी के वास्ते
एक ताज़ा शुरुआत करने के लिए
कभी भी देर नहीं हुई रहती है!

महानगरों में तो लोग सरकारी सूचना के बावजूद हैण्ड पम्प का पानी पीने को मज़बूर हैं जिस पानी में लेड, आर्सेनिक, टिन, सीसा, जस्ता आदि विषैले तत्वों सहित लोहे की भी प्रचुरता मिलती है। इसीलिए महानगर की भारी आबादी में मूत्र नलिका सम्बन्धी संक्रमण, हाज़मे की समस्याएँ, श्वास नलिका सम्बन्धी रोग और मेटाबॉलिक डिसॉर्डर पाये जाते हैं। ये समस्याएँ उम्र भर लोगों का पीछा नहीं छोड़तीं। सरकारी अस्पतालों व डिस्पेंसरियों द्वारा दी जाने वाली स्वास्थ्य सुविधाओं की विश्वस्नीयता के बारे में कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। देश की राजधानी तक में नगर निगम की डिस्पेंसरियों का बुरा हाल है। यहाँ डॉक्टरों के बैठने का कोई नियमित समय नहीं है और साथ ही मामूली दवाओं तक का अभाव है। जो दवाइयाँ उपलब्ध होती हैं, वह मात्र दो खुराक से ज्यादा नहीं मिलती हैं। आस-पास गन्दगी इतनी ज़्यादा होती है कि नाक बन्द किये बगैर बगल से सकुशल गुज़रना मुश्किल होता है। आज सरकारी अस्पतालों की पैथोलॉजी लैब और ब्लड बैंक, निजी क्षेत्र के लैबों और मुनाफ़ाखोर पिशाचों पर निर्भर है जो मरीज़ों से मन-मुआफ़िक पैसा ऐंठती हैं। देश भर में किडनियों और मानव अंगों के व्यापार का गोरखधंधा तो बहुत पहले से चर्चा में था, मगर अब ग़रीबी से तंग आकर लोग अपना खून भी बेचने लगे हैं। समय-समय पर लगने वाले रक्तदान शिविरों से प्राप्त खून को पैथोलॉजी लैब इकट्ठा करके रक्त जाँच द्वारा ब्लड ग्रुप, एचसीबी, एचबी, बीडीआरएलबी, आदि चीज़ों की जाँच करती हैं और साथ ही यह भी पता लगाती है कि कहीं रक्त में किसी प्रकार के बैक्टीरिया तो नहीं हैं। इसमें करीब 600 रुपये का खर्च आता है लेकिन ये लैब मुनाफ़े की हवस के कारण इन सभी जाँचों को नज़रअन्दाज़ करते हुए एक यूनिट खून को 1300 से 1600 रुपये में बेचती है। हालाँकि सुप्रीम कोर्ट ने यह हिदायत दे रखी है कि खून की यूनिट तभी मिलेगी जब मरीज़ का कोई परिजन बदले में शुल्क के साथ खून भी दान करेगा, मगर मानव के खून का कारोबार करने वाले इन दरिन्दों को ग़रीबी से तंग आए लोग आसानी से एक यूनिट खून 100 से 200 रुपये में बेच रहे हैं। सम्बन्धित स्वास्थ्य अधिकारियों की जेबें गर्म करने के बाद ये लैब खून का कारोबार धड़ल्ले से चला रही हैं।

ये है आज देश की स्वास्थ्य सुविधाओं की हालत। इसके अलावा इस व्यवस्था से उम्मीद भी कुछ नहीं की जा सकती। यहाँ मानवीय जीवन और संवेदनाओं की कोई कीमत नहीं है। ऐसे में हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस व्यवस्था के कर्ता-धर्ता वह कर रहे हैं जो उन्हें करना ही था, क्या हम वह नहीं करेंगे जो हमें करना चाहिए?

नया साल
अपने लोगों से प्यार
और दुश्मनों से नफ़रत के नाम,
उम्मीदों और सपनों के नाम!

उनकी तिजोरियाँ नोटों से हरी
जनता के लिए कुपोषण और भुखमरी

● गौरव, दिल्ली

हाँ, दोस्तो! यही आज का सच है। वैसे तो दुनिया ने हाल ही में नये साल का जश्न मनाया, लेकिन दुनिया को चलाने और बनाने वाली मेहनतकश जनता के पास जश्न मनाने की ज़्यादा वजहें नहीं थीं। 2005 में 60 लाख लोगों ने भुखमरी से दम तोड़ दिया। दुनिया में रोज़ाना करीब 1 लाख लोग कुपोषण से मर जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र विश्व खाद्य कार्यक्रम (यूएनडब्ल्यूएफपी) के प्रमुख जेम्स मॉरिस को भी हाल ही में विश्व खाद्य दिवस के मौके पर यह स्वीकारना पड़ा कि विश्व में एड्स, तपेदिक, मलेरिया आदि जैसी बीमारियों के मुकाबले भूख से कहीं ज्यादा लोग मर जाते हैं। दशकों बीत जाने और तरक्की के हवाई दावों के बावजूद भूख से मरने वाले लोगों की तादाद में लगातार वृद्धि हुई है। नाइज़र में अगर बरसात सही समय पर नहीं आती तो हर रोज़ 450 बच्चों के माता-पिता उन्हें तड़प-तड़पकर भूख से मरते देखने के सिवा कुछ नहीं कर सकते। इस समय दुनिया भर में 10 करोड़ बच्चे भूख का शिकार हैं।

1990 के दशक में हुए कुछ परिवर्तनों के बाद पूँजीवाद के तलवे चाटने वाले और कुछ 'बिग मोनोपोलीज़' के फेंके हुए टुकड़ों पर पलने वाले कुछ बुद्धिजीवियों ने हर्षातिरेक में यह घोषणा कर डाली थी कि पूँजीवाद ही वह मंज़िल है जहाँ तक इंसान पहुँच सकता है, इसलिए आने वाला सम्पूर्ण मानवीय इतिहास पूँजीवाद का इतिहास होगा और इस तरह एक प्रकार से यह इतिहास अन्त है। आज पूँजीवाद के समक्ष कोई समानान्तर मॉडल नहीं खड़ा है। लेकिन दुनिया भर में ग़रीबों और अमीरों के बीच बढ़ती खाई, भुखमरी, कुपोषण, बेरोज़गारी का जो आलम है उससे कोई सामान्य व्यक्ति भी यह नतीजा निकाल सकता है कि कम से कम यह मानवता, सभ्यता और व्यवस्था का चरमोत्कर्ष नहीं हो सकता। पूँजीवाद अपनी अन्तिम विजय की चाहे जितनी भी उन्मादी घोषणाएँ कर ले, इस बात से मुँह नहीं चुरा सकता कि आज दुनिया भर में बेरोज़गारी और ग़रीबी के खिलाफ़ जनता का असन्तोष फूटकर सड़कों पर उतर रहा है। इसी बात से पूँजीवाद के दूरदर्शी शुभचिन्तक और वैचारिक तोपें काफ़ी चिन्तित हैं और लगातार पूँजीपति वर्ग को चेता रही हैं कि इतना मत लूटो कि जनता उठ खड़ी हो। लेकिन पूँजीपति भी बेचारे क्या करें? वे भी पूँजी के गुलाम हैं। वे पूँजी पर सवार नहीं होते बल्कि पूँजी उनपर सवार होती है। और पूँजी की यह प्रवृत्ति या प्रकृति होती है कि वह विस्तारित होती है या नष्ट हो जाती है। ऐसे में उसे नये बाज़ार चाहिए होते हैं। लूटने के लिए लोग चाहिए होते हैं। ऐसे में किसी ऐसे पूँजीवाद की कल्पना नहीं की जा सकती जो शराफ़त से लिहाज़ करके लूटे। लिहाज़ा, होना यही है, और यह होना शुरू भी हो गया है, कि आने वाले समय में पूँजी की सत्ता के ख़िलाफ़ बग़ावतें होंगी। लेकिन बग़ावतें समाज

नहीं बदलतीं। समाज क्रान्तियाँ बदलती हैं। बग़ावत को क्रान्ति में तब्दील करने के लिए विचारों की ज़रूरत होती है। अब यह आज के नौजवानों और छात्रों को तय करना है कि वे जनता की बग़ावतों को विचार और नेतृत्व देकर उस बेहद कठिन और जटिल ज़िम्मेदारी को निभाएँगे या नहीं, जो इतिहास ने उनके बलिष्ठ कंधों पर रखी है।

नये युग का आरम्भ!! क्या वाकई?

● प्रसेन, दिल्ली

हाल ही में, आश्चर्यजनक रूप से बिहार से 'लालू राज' ख़त्म हो गया! समोसे में तो अब भी आलू ही है, लेकिन बिहार में लालू नहीं है! लालू की हार पर बुर्जुआ मीडिया न जाने क्यों हर्षातिरेक में डूब गया। सारे के सारे चैनल ढिंढोरा पीट-पीटकर भाव-विभोर हुए जा रहे थे कि चुनाव आयोग ने तो कमाल कर दिया! बिहार में 'फ्री एण्ड फेयर इलेक्शन' करा दिया? कइयों ने तो यहाँ तक दावा कर दिया कि यह भारतीय जनतंत्र के लिए एक महान दिन है। इस 'निष्पक्ष एवं शांतिपूर्ण चुनाव' ने लोकतंत्र में जनता की आस्था बहाल कर दी! भई वाह!! बाज़ारू अखबारों के भाड़े के कलमघसीटों ने के. जे. राव का महिमामण्डन किया। उनको शेषन और खैरनार का उत्तराधिकारी घोषित किया गया। भारतीय शिक्षित शहरी उच्च मध्य वर्ग को एक नया हीरो मिल गया था।

लेकिन बुर्जुआ वर्ग के तलवेचाटों के इन "महान विश्लेषणों" को एक बार किनारे रख कर ज़मीनी सच्चाइयों की पड़ताल की जाए तो पता चलता है कि आधी से ज्यादा आबादी की पाँच साल पर होने वाले इस खेल में कोई रुचि नहीं थी। भारी सुरक्षा के बावजूद सिर्फ़ 46 प्रतिशत लोग ही वोट डालने गए। ऐसा भी नहीं था कि जनता ने नीतीश के "सुशासन और विकास" के नारे के आधार पर ही वोट कर दिया हो। आज़ादी के बाद के 58 वर्षों की लफ्फाजी के बाद कम से कम सुशासन और विकास के दावों से तो कोई जनता को मूर्ख नहीं बना सकता। अधिकांश वोट जाति आधार पर पड़े। यह एक सहायक कारक ज़रूर था कि जिन जातियों ने पहले लालू को खड़ा किया था, विकास के अभाव के दशकों बीत जाने के कारण उन्हीं जातियों ने लालू के ख़िलाफ़ भी वोट डाले। वहीं इन जातियों को लुभाने के लिए लालू-विरोधियों ने भी कई चालें चलीं थी। नतीजतन, लालू के ख़िलाफ़ नकारात्मक वोटिंग भी बड़े पैमाने पर हुई। लेकिन इस सारे खेल को बुर्जुआ मीडिया ने "सोशल इंजीनियरिंग" की संज्ञा दी!

बिहार चुनाव में "शांतिपूर्ण तथा निष्पक्ष" मतदान कराने के लिए चुनाव आयोग की उठा-पटक भी देखते ही बनती थी। शेषन और खैरनार के बाद अब पूँजीवादी लोकतंत्र के नये खेवनहार राव ने पूँजीवादी लोकतंत्र के नंगे हो चुके शरीर को ढाँपने-तोपने का जी-तोड़ प्रयास किया। अब यह बात दीगर है कि इसके बावजूद वह दो दर्जन से भी ज्यादा हिस्ट्रीशीटरों को विधानसभा में पहुँचने से नहीं रोक पाए। असल में पूँजीवादी जनतंत्र के इस पंचवर्षीय खेल में चुनाव आयोग की भूमिका एक रेफरी के समान होती है जो इस खेल में शामिल खिलाड़ियों (ध्यान रहे! इस खेल में जनता की हैसियत सिर्फ तमाशबीन की या मोहरों की हो सकती है, खिलाड़ी की नहीं!) को बीच-बीच में खेल के नियमों की याद दिलाता है। जब पिछले कई चुनावों में खिलाड़ियों 'फाउल' खेलकर गेम जीतने की होड़ में जुट गए तो ऐसे में चुनाव आयोग के माथे पर पसीने की बूँदें चुहचुहा आईं। नतीजतन, इस बार चुनाव आयोग ने राव के जरिये विभिन्न पार्टियों को यह समझाने की कोशिश की कि 'देखो अगर खेल बिना किसी नियम-कानून के चलेगा तो जनता का विश्वास इस पर से उठ जाएगा। और अगर जनता बिदक गई तो सारा खेल चौपट हो जाएगा! भई, खेल के नियम ही इस बात को ध्यान में रखकर बनाए गए थे कि खिलाड़ियों को कोई दिक्कत न हो, तो फिर उन्हें तोड़ने की क्या ज़रूरत?' राव, शेषन और खैरनार जैसे लोग पूँजीवाद की इसी चिन्ता की कोख से पैदा होने वाले लोग हैं।

लेकिन लाख कोशिशों के बावजूद पूँजीवादी जनतंत्र की गरिमा को बहाल करने में चुनाव आयोग असफल रहा। क्योंकि जब चेहरे के दाग कोढ़ बनकर फूटने लगें तो कौन-सा लेप लगाकर उसकी असलियत को छिपाया जा सकता है?

पूँजीवादी जनतंत्र आज इतना पतित हो चुका है कि संगठित लुटेरों के गिरोहों और पूँजीवादी राजनीतिक पार्टियों में कोई फर्क नहीं रह गया है। धर्म, जाति, क्षेत्र और भाषा आदि को लेकर जनता को आपस में लड़ाने में और उदारीकरण और निजीकरण की नई आर्थिक नीतियाँ लागू करने के मामले में सभी एकमत हैं। इसकी वजह बहुत साफ़ है। आज बड़े इजारेदार पूँजीपति वर्ग के साथ शहरी तथा देहात के छोटे पूँजीपति वर्ग के बीच लूट के माल के बँटवारे के रिश्ते बुनियादी तौर पर तय हो चुके हैं। और यही कारण है कि अवसरवादी गठबंधनों की एक बाढ़ सी उमड़ पड़ी है। चूँकि नीतिगत मसलों पर कोई विरोध नहीं है इसलिए जिसके साथ फायदा हो उसके साथ हो लो। नतीजतन, धर्म-निरपेक्षता का राग अलापने वाली कोई पार्टी आपको साम्प्रदायिकतावादी साँपों की बांबी में मिल सकती है और मज़दूरों के हितों की दुहाई देने वाले लाल तोते आपको पूँजीवादियों के

नया वर्ष
सिर्फ सपने से होने वाली
नयी शुरुआत के नाम,
पराजय की राख से
जनमते संकल्पों के नाम,
अँधेरे समय में
जीवित हृदय की कविता के नाम!

साथ मज़दूर-विरोधी नीतियाँ बनाते मिल जाएँ तो ताज्जुब न करें। नीतीश कुमार ने इसका एक ताज़ा उदाहरण ही तो पेश किया है। इतना तो साफ़ है कि 'नीतीश राज' में बिहार की कोई काया-पलट नहीं होने वाली। साफ़ शब्दों में कहा जाय तो बिहार के तख़्त पर साँपनाथ की जगह नागनाथ विराजमान हो गए हैं। लुटेरों का गिरोह भले ही बदल जाए, वे जनता के लिए लुटेरे ही रहते हैं। जब तक देश के युवा कोई क्रान्तिकारी विकल्प पेश नहीं करते तब तक विकल्पहीनता की स्थिति में नागनाथ और साँपनाथ बारी-बारी से आते-जाते रहेंगे।

कालाहाण्डी में लगती मज़दूरों की मण्डी

● योगेश, दिल्ली

यह बात सिद्धान्त के तौर पर तो हम जानते हैं कि पूँजीवाद जीते-जागते इंसान को भी एक माल बना देता है, लेकिन हाल ही में इसका एक उदाहरण भी देखने को मिल गया। भारत के कई पिछड़े हिस्सों में मज़दूरों को ख़रीदा और बेचा जा रहा है। ऐसे स्थान अब बाकायदा एक मण्डी का रूप ले चुके हैं। इन जगहों पर मज़दूरों को अच्छी दिहाड़ी का लालच देकर ठेकेदारों को बेच दिया जाता है।

वैसे तो देश के कई प्रदेशों में यह व्यापार होता है लेकिन कालाहाण्डी में यह एक व्यवस्थित रूप ले चुका है। इस व्यापार में लाखों-करोड़ों रुपयों का कारोबार होता है। यह वही कालाहाण्डी है जहाँ माँएँ अपने बच्चों को सौ-सौ रुपयों में बेचने को मज़बूर हो जाती हैं, जहाँ भूख और ग़रीबी के कारण बड़े पैमाने पर आत्महत्याएँ होती रहती हैं। कालाहाण्डी के उजड़ चुके छोटे किसान अब सर्वहाराओं के उमड़ते सागर का हिस्सा बन चुके हैं। यहाँ कई इलाकों में सूखा पड़ा हुआ है। इसी इलाके के गोदामों में अनाज अँटा पड़ा है। लेकिन राज्य सरकार ने अनाज के दाम गिरने से रोकने का तर्क देकर यह अनाज इन लोगों में वितरित करने से इंकार कर दिया। उजड़े किसान रोजी-रोटी की तलाश में शहर आने लगे। यह काम दरअसल इन मज़दूरों की ख़रीद-फ़रोख़्त के जरिए ही हुआ। यहाँ अब तक 2.5 लाख मज़दूर ठेकेदार के हाथ बिक चुके हैं। यहाँ गाँवों से लोगों को एजेण्टों के माध्यम से, जिन्हें गाँव में 'सरदार' कहा जाता है, शहरों में ले जाया जाता है। शहर में किसी शॉपिंग मॉल, इमारत आदि के बनने के समय तक ये मज़दूर एजेण्ट और ठेकेदार पर निर्भर रहते हैं। उन्हें 60 रुपये दिहाड़ी में दिन भर काम करना होता है और उनके रहने के लिए काम की जगह के पास ही उनके लिए दड़बेनुमा जगहें बना दी जाती हैं जहाँ बुनियादी सुविधाएँ भी नहीं होतीं। काम में छोटी-मोटी गलती होने पर इन्हें मारा-पीटा जाता है, दिहाड़ी रोक दी जाती है। पर काम छूट जाने के डर से वे ये सब कुछ सहते हैं। और जिन स्थितियों में यह काम होता है उसमें दुर्घटनाएँ होना लाज़िमी होता है। असल में, हर इमारत की नींव में ईंट और गारे के साथ कई मज़दूरों की लाशें भी होती हैं। जो दुर्घटनाओं में नहीं मरते वे बीमारी से मर जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार दुनिया में हर साल 22 लाख मज़दूर बीमारी से मर जाते हैं।

मज़दूरों के इन हालात से एक नतीजा एकदम साफ़ तौर पर निकलता है। दास व्यवस्था के अन्त के बाद दास भूदास बन गए थे। पूँजीवाद ने ज़मीन से बंधन को खत्म किया और किसानों की भारी आबादी को "मुक्त" कर मज़दूर बना दिया। लेकिन सिर्फ इसलिए कि वे उनकी गुलामी करें, जिसके बदले में उन्हें उजरत (मज़दूरी) दी जाएगी। दूसरे शब्दों में, मेहनतकश अवाम आज भी गुलाम ही है—उजरती गुलाम। कहने की ज़रूरत नहीं है कि कुछ भी स्थायी नहीं होता। हर चीज़ का आदि और अन्त होता है।

"एक क्रान्तिकारी सबसे अधिक तर्क में विश्वास करता है। वह केवल तर्क और तर्क में विश्वास करता है। किसी प्रकार का गाली-गलौच या निन्दा, चाहे वह ऊँचे से ऊँचे स्तर से की गई हो, उसे अपने निश्चित उद्देश्य प्राप्ति से वंचित नहीं कर सकती।"

('बम का दर्शन'
भगतसिंह, भगवती चरण वोहरा)

मक्सिम गोर्की

जन्मदिवस (28 मार्च के अवसर पर)

"...जीवन की उपयोगिता आत्म-सन्तोष में नहीं है, जो भी हो मनुष्य उससे ऊँचा तो है ही। जीवन की उपयोगिता है सौन्दर्य में और किसी लक्ष्य के लिए किए गए प्रयत्न की शक्ति में, मानव के प्रत्येक पल का एक उच्चतर लक्ष्य होना चाहिए। रोष, घृणा, अनुताप, वितृष्णा और अन्त में गम्भीर नैराश्य—यही वे शक्तियाँ हैं जिनसे तुम पृथ्वी पर की प्रत्येक वस्तु का नाश कर सकते हो। जीवन की प्यास तुम किसी में कैसे जगा सकते हो जब तुम धीरे से आदमी की ओर इशारा करके बस यह कहना जानते हो कि वह धूल से अधिक कुछ नहीं है?"

('एक पाठक' कहानी से)